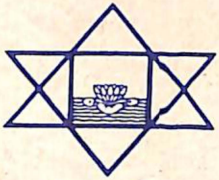

श्रीअरविंद

हमारा योग और उसके उद्देश्य

H
181.45 Au 68 H

श्रीअरविंद आश्रम
पांडिचेरी

H
181.45
Au 68 H

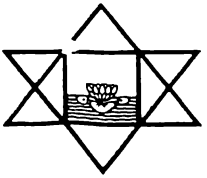

श्रीअरविंद

हमारा योग और उसके उद्देश्य

श्रीअरविंद आश्रम
पांडिचेरी

प्रथम संस्करण : १९४५
पुनर्मुद्रित: १९४६, १९५१, १९६२, १९७४, १९८५, १९९४, १९९९

अनुवादक : चन्द्रदीप

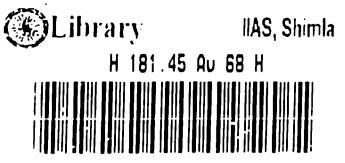
Library IIAS, Shimla
H 181.45 Au 68 H
00099615

H
181.45
Au 68 H

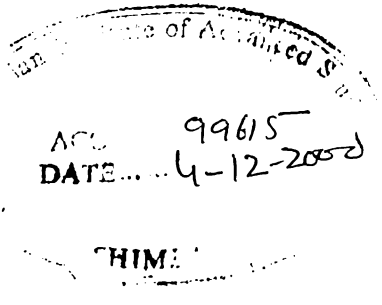
99615
DATE... 4-12-2005
SHIM

ISBN 81-7058-358-6

© श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्ट १९९४
प्रकाशक : श्रीअरविंद आश्रम प्रकाशन विभाग
मुद्रक: ऑल इंडिया प्रेस, पांडिचेरी — ६०५ ००१

प्रकाशक का वक्तव्य

यह पुस्तक श्रीअरविंद की "दि योग एंड इट्स आबजेक्ट्स" (The Yoga and its Objects) नामक अंग्रेजी पुस्तक का हिंदी अनुवाद है। इसमें श्रीअरविंद ने अपने दृष्टिकोण से योग के तात्पर्य को सरल, स्पष्ट और संक्षिप्त रूप में समझाया है। इसमें साधना की भी कुछ सार बातें आ गयी हैं। यह पहली पुस्तक है जिसे श्रीअरविंद योग का प्राथमिक ज्ञान लाभ करने के लिये पढ़ना चाहिये।

हमारा योग और उसके उद्देश्य

जिस योग की साधना हम करते हैं वह केवल हमारे लिये ही नहीं प्रत्युत भगवान् के लिये है; उसका उद्देश्य है इस जगत् में भगवान् की इच्छा को कार्यान्वित करना; एक आध्यात्मिक रूपांतर साधित करना और मनुष्यजाति की मनोमय, प्राणमय और अन्नमय प्रकृति और जीवन के अंदर दिव्य प्रकृति और दिव्य जीवन को उतार लाना। उसका उद्देश्य व्यक्तिगत मुक्ति नहीं है, यद्यपि मुक्ति योग की एक आवश्यक अवस्था है, बल्कि उसका उद्देश्य है मानव-सत्ता की मुक्ति और रूपांतर सिद्ध करना। हमारा उद्देश्य व्यक्तिगत रूप से आनंद पाना नहीं है, बल्कि हमारा उद्देश्य है दिव्य आनंद को—ईसा के स्वर्गीय राज्य को, हमारे सत्ययुग को—पृथ्वी पर उतार लाना। मोक्ष की हमें व्यक्तिगत रूप से कोई आवश्यकता नहीं; कारण आत्मा तो नित्य-मुक्त है और बंधन केवल भ्रम है। हम तो बद्ध होने का अभिनयमात्र करते हैं, वास्तव में हम बद्ध नहीं हैं। जिस समय भगवान् की इच्छा होगी उसी समय हम मुक्त हो सकते हैं, क्योंकि वह, हमारे परम आत्मा ही, इस लीला के अधीश्वर हैं और उनकी कृपा और आज्ञा के बिना कोई आत्मा इस लीला से अलग नहीं हो सकता। बहुधा हमारे अंदर यह भगवान् की ही इच्छा होती है कि मन के द्वारा अज्ञान का, द्वंद्वों का, हर्ष और शोक का, सुख और दुःख का, पुण्य और पाप का, भोग और त्याग का रसास्वादन किया जाये। बहुत दीर्घ काल तक, बहुत-से देशों में तो वह योग का कभी विचार तक नहीं करते, बल्कि इसी लीला को शताब्दियों खेला करते हैं और इससे जरा भी नहीं थकते। इसमें कोई बुराई नहीं, ऐसी कोई बात नहीं जिसे हम दोष दें या जिससे मुंह मोड़ें—यह तो भगवान् की लीला है। वही मनुष्य बुद्धिमान् है जो इस सत्य को स्वीकार करता और अपनी स्वतंत्रता को जानते हुए भी भगवान् की इस लीला में भाग लेता है और इस लीला की पद्धति में परिवर्तन करने के लिये उनके आदेश की प्रतीक्षा करता है।

उनका आदेश अब हो चुका है। भगवान् सदा ही अपने लिये एक ऐसा देश चुनकर रखते हैं जिसमें थोड़े या बहुत-से लोग सब प्रकार की संभावनाओं और विपत्तियों में से गुजरते हुए उच्चतर ज्ञान को सदा-सर्वदा सुरक्षित रखते हैं, और वर्तमान काल में, कम-से-कम इस चतुर्युग में, वह देश है भारतवर्ष। जब कभी वह अज्ञान का, द्वंद्वों का, संघर्ष और क्रोध और दुःख और दुर्बलता और स्वार्थपरता का, तामसिक और राजसिक सुखों का, थोड़े में कहें तो कलि की लीला का पूरा-पूरा उपभोग करना चाहते हैं तब वह भारत के ज्ञान को धुंधला बना देते और उसे दुर्बलता और अवनति के गढ़े में डाल देते हैं जिससे वह आत्मसंवरण कर ले और उनकी लीला की इस गति में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करे। जब वे इस कीचड़ से ऊपर उठना चाहते हैं और यह चाहते हैं कि नर में जो नारायण हैं वे फिर एक बार शक्तिशाली, ज्ञानवान् और आनंदपूर्ण बन जायें तब वे पुनः भारतवर्ष के ऊपर ज्ञान की वर्षा करते और उसे ऊपर उठाते हैं जिससे वह (भारतवर्ष) समस्त संसार को ज्ञान दे सके और उस ज्ञान के अवश्यंभावी फल—बल, बुद्धि और आनंद—दे सके। जब ज्ञान की गति संकुचित हो जाती है तब भारत के योगी संसार से अलग होकर केवल अपनी मुक्ति या आनंद के लिये या अपने कुछ शिष्यों की मुक्ति के लिये योगाभ्यास करते हैं; परंतु जब ज्ञान की गति पुनः प्रसारित होती है और उसके साथ-ही-साथ भारत का आत्मा भी प्रसार लाभ करता है तब वे फिर सामने आ जाते और संसार में तथा संसार के लिये कार्य करते हैं। तब जनक, अजातशत्रु और कार्तवीर्य जैसे योगी फिर से संसार के राजसिंहासनों पर आरूढ़ होते और विभिन्न राष्ट्रों पर शासन करते हैं।

मनुष्य में जो भगवान् की लीला होती है वह सदा चक्राकार घूमती रहती है, सत्ययुग से कलियुग की ओर और फिर कलियुग में से होती हुई सत्ययुग की ओर जाती है। आधुनिक भाषा में सत्ययुग संसार का वह काल है जिसमें एक प्रकार का सामंजस्य, स्थायी और पर्याप्त सामंजस्य, उत्पन्न होता है और मनुष्य कुछ समय के लिये, कतिपय अवस्थाओं और सीमाओं के अंतर्गत, अपनी सत्ता की पूर्णता को प्राप्त करता है। यह

सामंजस्य इस युग की प्रकृति में ही विद्यमान रहता है और उसे एक सुप्रतिष्ठित पवित्रता की शक्ति धारण किये रहती है; परंतु उसके बाद यह सामंजस्य भंग होने लगता है और त्रेतायुग में इसे मनुष्य व्यष्टिगत और समष्टिगत संकल्प-शक्ति के द्वारा संभाले रखता है; आगे चलकर यह और भी अधिक भंग होता है और द्वापरयुग में मनुष्य बौद्धिक विधान और सार्वजनिक सम्मति और शासन के द्वारा इसे संभाले रखने का प्रयास करता है; फिर कलियुग में आकर यह पूर्ण रूप से भग्नावस्था को प्राप्त होता और अंत में नष्ट हो जाता है। परंतु कलि एकदम अशुभ ही नहीं है; इसमें एक नवीन सत्ययुग, एक दूसरे सामंजस्य, एक उच्चतर पूर्णता के लिये आवश्यक अवस्थाओं का उत्तरोत्तर निर्माण होता है। इस कलियुग में, जो समाप्त हो चुका है पर जिसका प्रभाव अभीतक चल रहा है और जिसका यह प्रभाव भी अब समाप्ति पर ही है, प्राचीन ज्ञान और संस्कृति का प्रायः नाश हो गया है। उस ज्ञान और संस्कृति के केवल इने-गिने अंश ही वेदों, उपनिषदों और अन्यान्य धर्म-ग्रंथों में तथा संसार की उल्टी-सीधी परंपराओं के रूप में हमारे लिये बचे हुए हैं। परंतु अब वह समय आ गया है जब ऊपर की ओर जाने के लिये पहला पग उठाया जा सकता है, एक नवीन सामंजस्य और पूर्णता को स्थापित करने के लिये प्रथम प्रयास किया जा सकता है। यही कारण है कि आज मनुष्य के समाज, ज्ञान, धर्म और सदाचार की पूर्णता के विषय में इतने तरह के विचार फैल रहे हैं। परंतु सच्चे सामंजस्य का पता अभीतक किसीको नहीं मिला है।

केवल भारतवर्ष ही इस सामंजस्य का पता लगा सकता है, क्योंकि मनुष्य की वर्तमान प्रकृति में केवल थोड़ा-बहुत हेर-फेर करके नहीं, वरन् उसका परिवर्तन करके ही यह सामंजस्य विकसित किया जा सकता है और यह परिवर्तन योग के बिना कदापि नहीं हो सकता। आजकल मनुष्य और सभी वस्तुओं की प्रकृति बेमेल हो गयी है, उसकी सुरसंगति बेसुरी हो गयी है। उसे सामंजस्यपूर्ण बनाने के लिये मनुष्य के समूचे हृदय, कर्म और मन को परिवर्तित करना होगा, पर यह परिवर्तन अंदर से करना होगा, बाहर से नहीं; न तो राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं के द्वारा, न

धार्मिक मतवादों तथा दर्शन-शास्त्रों के ही द्वारा करना होगा, बल्कि अपने अंदर और जगत् के अंदर भगवान् की उपलब्धि करके और उस उपलब्धि के द्वारा जीवन को एक नये सांचे में ढाल करके करना होगा। यह परिवर्तन केवल पूर्णयोग के द्वारा ही हो सकता है जो एक ऐसा योग है जिसकी साधना किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिये नहीं, भले ही वह प्रयोजन मुक्ति या आनंद प्राप्त करना ही क्यों न हो, बल्कि अपने अंदर और दूसरों के अंदर दिव्य मानवता को चरितार्थ करने के लिये ही की जाती है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये हठयोग और राजयोग की साधनाएं पर्याप्त नहीं हैं और न त्रिमार्ग (ज्ञान, कर्म और भक्ति) ही यह कार्य पूरा कर सकता है; इसके लिये हमें और भी ऊपर उठना होगा और अध्यात्म-योग का आश्रय ग्रहण करना होगा। इस अध्यात्मयोग का मूल सिद्धांत है ज्ञान की दृष्टि से उन समस्त वस्तुओं को, जिन्हें हम देखते तो नहीं पर जिन्हें हम जानते हैं—मनुष्य, वस्तुएं, स्वयं हम, घटनाएं, देवता, दानव और देवदूत—इन सबको एक परब्रह्म के रूप में अनुभव करना और कर्म तथा भाव की दृष्टि से उन परात्पर पुरुष को—विश्वातीत, अनंत और विश्वव्यापी पुरुष को पूर्ण आत्मसमर्पण करना जो एक साथ ही साकार और निराकार हैं, सांत और अनंत हैं, स्वात्मसीमित और असीम हैं, एक और बहु हैं तथा ऊपर रहनेवाले केवल देवताओं को ही नहीं, बल्कि यहां नीचे रहनेवाले मनुष्य, कीट और मिट्टी के ढेलेतक को अपनी सत्ता से परिपूरित करते हैं। यह समर्पण पूर्ण होना चाहिये; कुछ भी अपने लिये बचाकर नहीं रखना चाहिये, कोई कामना-वासना, कोई मांग, कोई राय, यही होगा और वह नहीं हो सकता, यही होना चाहिये और वह नहीं होना चाहिये—ऐसी कोई भावना नहीं रखनी चाहिये, सब कुछ अर्पण कर देना चाहिये। हृदय सब प्रकार की कामनाओं से, बुद्धि सब प्रकार के हठों से मुक्त होनी चाहिये, प्रत्येक द्वंद्व का त्याग होना चाहिये, समस्त दृश्य और अदृश्य जगत् को प्रच्छन्न दिव्य ज्ञान, शक्ति और आनंद की एक परम अभिव्यक्ति के रूप में देखना चाहिये और जिस तरह एक इंजन अपने ड्राइवर के हाथों में निष्क्रिय बना रहता है उसी तरह अपनी समूची सत्ता सौंप देनी चाहिये जिससे दिव्य

प्रेम, शक्ति और पूर्ण प्रज्ञा अपना कार्य कर सकें तथा अपनी दिव्य लीला चरितार्थ कर सकें। अहंकार एकदम नष्ट हो जाना चाहिये जिससे हम—जैसा कि भगवान् चाहते हैं कि हम अंत में प्राप्त करें—पूर्ण आनंद, पूर्ण शांति और ज्ञान तथा भागवत सत्ता की पूर्ण कर्मण्यता को प्राप्त कर सकें। पूर्ण आत्म-समर्पण का यह भाव यदि अपूर्ण रूप में भी स्थापित हो जाये तो फिर यौगिक क्रिया की कोई भी आवश्यकता नहीं रह जाती। कारण, उस अवस्था में स्वयं भगवान् हमारे अंदर साधक और सिद्ध बन जाते हैं और उनकी दिव्य शक्ति हमारे अंदर कार्य करने लग जाती है; और वह हमारी कृत्रिम प्रक्रियाओं के द्वारा नहीं अपितु उस प्रकृति माता की क्रियाओं के द्वारा कार्य करती है जो पूर्ण रूप से अभिज्ञ है, समस्त विषयों का अनुसंधान रखती है और अमोघ रूप से कार्यक्षम है। उस दिव्य शक्ति की प्रकृष्ट क्रिया के सामने अत्यंत सामर्थ्यशाली राजयौगिक संयम, अत्यंत उन्नत प्राणायाम, अत्यंत श्रमसाध्य ध्यान, अत्यंत आनंदपूर्ण भक्ति और अत्यंत निष्काम कर्म भी—यद्यपि ये सभी शक्तिशाली और फलोत्पादक हैं—अपने परिणाम में बड़े दुर्बल सिद्ध होते हैं। क्योंकि ये सभी कुछ हदतक हमारी क्षमता से सीमित हैं; पर वह दिव्य शक्ति अपनी क्षमता में असीम है, क्योंकि वह स्वयं भगवान् की क्षमता है। वह केवल भगवान् की इच्छा से ही सीमित है जो यह जानती है कि संसार के लिये और, संसार में तथा इससे बाहर, हम में से प्रत्येक के लिये सबसे उत्तम बात क्या है।

इस योग की सबसे पहली प्रक्रिया है आत्मसमर्पण का संकल्प करना। तुम अपने समूचे हृदय और अपनी सारी शक्ति के साथ अपने-आपको भगवान् के हाथों में सौंप दो। कोई शर्त मत रखो, कोई चीज मत मांगो, यहांतक कि योग में सिद्धि भी मत मांगो, एकदम कुछ भी मत मांगो सिवा इसके कि तुम्हारे अंदर और तुम्हारे द्वारा भगवान् की ही इच्छा प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध होती रहे। जो लोग भगवान् से कुछ मांगते हैं उन्हें वह वही चीज देते हैं जिसे वे मांगते हैं, परंतु जो लोग अपने-आपको दे देते हैं और कुछ भी नहीं मांगते उन्हें वह वे सब चीजें देते हैं जिन्हें उन्होंने या तो मांगा होता

या जिनकी उन्हें आवश्यकता हुई होती और उनके अतिरिक्त स्वयं अपने-आपको तथा अपने प्रेम के अहेतुकी दानों को प्रदान करते हैं।

इस योग की दूसरी प्रक्रिया है द्रष्टाभाव से अलग होकर अपने अंदर दिव्य शक्ति की क्रिया को देखना। दिव्य शक्ति की यह क्रिया जब हमारे अंदर होती है तब बहुधा देहादि में विक्षोभ और कष्ट उत्पन्न होता है, अतएव श्रद्धा का होना अत्यंत आवश्यक है, यद्यपि पूर्ण श्रद्धा का एकबारगी हो जाना सदा संभव नहीं है; क्योंकि तुम्हारे अंदर जो कुछ मलिनता है—चाहे वह बाहर दिखायी पड़ती हो या भीतर छिपी पड़ी हो—वह आरंभ में उमड़ पड़ती है और जबतक वह जड़मूल से बाहर नहीं निकाल दी जाती तबतक वह बार-बार आक्रमण करती रहती है और इस अवस्था में संदेह का उत्पन्न होना एक ऐसी मलिनता है जो प्रायः सभी साधकों में पायी जाती है। परंतु जब संदेह का भी आक्रमण हो तब उससे अपने को अलग कर लो और तबतक प्रतीक्षा करो जबतक वह तुम्हारे अंदर से निकल न जाये। ऐसे अवसर पर यदि संभव हो तो ऐसे आदमियों के सत्संग से लाभ उठाओ जो इस मार्ग में कुछ आगे बढ़ चुके हों, पर ऐसे सत्संग का अगर अभाव हो तो योग के मूल सिद्धांत आत्मसमर्पण को दृढ़तापूर्वक पकड़े रहो। जब कोई भीतरी कष्ट तुम्हें सतावे या बाहर से कोई आक्रमण हो तब सदा गीता के इन शब्दों को स्मरण करो—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि।

"अपने-आपको हृदय और मन से मुझे दे देने से तू समस्त कठिनाइयों और संकटों को मेरे प्रसाद से पार कर जायेगा।" और फिर—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

"समस्त धर्मों का (सभी सिद्धांतों, नियमों, हर तरह के साधनों और विधानों का चाहे वे पूर्व के अभ्यास या विश्वास द्वारा निर्मित हुए हों या बाहर से हमारे ऊपर लाद दिये गये हों, उन सबका) परित्याग कर और

एकमात्र मेरी शरण में आ जा; मैं तुझे समस्त पापों और दोषों से मुक्त कर दूंगा—शोक मत कर।" "मैं मुक्त कर दूंगा"—तुम्हें इस तरह परेशान होने या संघर्ष करने की आवश्यकता नहीं मानों सारा उत्तरदायित्व तुम्हारा ही हो और परिणाम तुम्हारे प्रयास पर ही निर्भर करता हो, तुमसे कहीं अधिक शक्तिशाली सत्ता इस कार्य में लगी हुई है। चाहे कोई रोग-शोक हो या संकट उत्पन्न हो या तुम्हारे अंदर कोई पाप या मलिनता उभड़ती हो—किसी बात से तुम्हें जरा भी घबड़ाना नहीं चाहिये। केवल उन भगवान् को दृढ़तापूर्वक पकड़े रहो। "मैं तुझे समस्त पापों और दोषों से मुक्त कर दूंगा।"—स्वयं भगवान् तुम्हें इन सबसे मुक्त कर देंगे। परंतु यह मुक्ति अचानक किसी चमत्कार के रूप में नहीं आती, यह पवित्रीकरण की एक प्रक्रिया के द्वारा आती है और ये सब चीजें उसी प्रक्रिया का एक अंग हैं। ये सब चीजें ठीक उस धूल की जैसी हैं जो बहुत दिनों तक गंदे पड़े हुए कमरे को अंत में साफ करते समय बादल की तरह छा जाती है। यद्यपि उस धूल से दम घुटता-सा मालूम होता है, फिर भी अपने प्रयास में बराबर लगे रहो—"*मा शुचः*"।

साक्षी रूप से अपने-आपको अलग करने के लिये यह आवश्यक है कि तुम अपने-आपको पुरुष जानो जो केवल देखता है, भगवान् की क्रिया के लिये अनुमति देता है, आधार को धारण करता है और भगवान् के दिये हुए फलों का उपभोग करता है। वास्तव में कर्म को तो शक्तिरूपी भगवान्, स्वयं काली ही करती हैं और उसे यज्ञ-रूप में श्रीकृष्ण को अर्पित करती हैं; तुम तो केवल उस यजमान की तरह हो जो यज्ञ को संपन्न होता हुआ देखता है, जिसकी उपस्थिति यज्ञ की प्रत्येक क्रिया के लिये आवश्यक है और जो उसके फलों का रसास्वादन करता है। इस प्रकार अपने-आपको अलग कर लेना, कर्तृत्वाभिमान का त्याग कर देना उस समय तुम्हारे लिये आसान हो जायेगा जब तुम यह समझ जाओगे कि यह आधार क्या है। साधारण तौर पर इस आधार के जिन भागों को हम जानते हैं, जिनके विषय में हम सचेतन हुए हैं वे हैं शरीर, प्राण और अंतःकरण-चतुष्टय (चित्त, मन, बुद्धि और अहंकार)। परंतु अंतःकरण की उच्चतम

वृत्ति बुद्धि से भी परे पराबुद्धि या विज्ञान है जो सत्यधर्म, सत्यज्ञान, सत्य-भाव, सत्य-कर्म का धाम है और इस आदर्श वृत्ति से भी ऊपर है आनंद जिसमें तुम्हारा दिव्य अंश निवास करता है। जब ईसा ने यह कहा था कि भगवान् का राज्य तुम्हारे अंदर ही है तब उनका अभिप्राय इस विज्ञान और आनंद से ही था। अभी हम लोग निम्नतर प्रवृत्तियों में ही जाग्रत् हैं और विज्ञान तथा आनंद में सुषुप्त हैं; हमें अपने अंदर चेतना के इन स्तरों को जाग्रत् करना होगा और इनका जाग्रत् हो जाना तथा इनकी विशुद्ध क्रिया का होने लगना ही योग-सिद्धि है। क्योंकि जब ऐसा हो जाता है तब हमें वह स्थिति प्राप्त होती है जिसे गीता में भगवान् के अंदर निवास करना कहा गया है और जिसकी ओर लक्ष्य करके ही श्रीकृष्ण कहते हैं—"*मयि निवसिष्यस्येव*" —तू निश्चयपूर्वक मुझमें निवास करेगा। एक बार जहां यह स्थिति प्राप्त हो गयी कि हम मुक्त और धन्य हो जाते हैं और हमें वे सारी चीजें प्राप्त हो जाती हैं जिनके लिये हम प्रयास कर रहे हैं।

इस योग की तीसरी प्रक्रिया है सभी वस्तुओं को भगवान् के रूप में देखना। साधारणतया ज्ञान की इस प्रक्रिया में सबसे पहले साधक एक दिव्य निर्व्यक्तिक सत्ता को, सद् आत्मा को समस्त देश और काल के अंदर परिव्याप्त देखता है जिसमें कोई गति, कोई भेद या आकृति नहीं होती, जो '*शान्तम् अलक्षणम्*' होती है, जिसमें सभी नाम और रूप ऐसे जान पड़ते हैं मानों उनमें सद्वस्तु का अस्तित्व या तो अत्यंत संदिग्ध या अत्यंत नगण्य रूप में ही है। इस अनुभूति में ऐसा प्रतीत हो सकता है कि एकमात्र सद्वस्तु तो बस 'एक' ही है और अन्य सब कुछ माया है, उद्देश्यहीन और अनिर्वचनीय भ्रम है। परंतु उसके बाद, यदि तुम यहीं रुक न जाओ और अपने-आपको इस निर्व्यक्तिक अनुभूति द्वारा सीमित न कर लो तो तुम्हें यह दिखायी देगा कि वही आत्मा सभी सृष्ट वस्तुओं को न केवल अपने अंदर रखता और धारण करता है बल्कि उनमें परिव्याप्त और ओतप्रोत भी हो रहा है, और अंत में तुम यह समझ सकोगे कि ये सब नाम और रूप भी ब्रह्म ही है। तब तुम अधिकाधिक उस ज्ञान में निवास करने लगोगे जिसे गीता और उपनिषदों ने जीवन का सिद्धांत माना है। उस समय तुम

आत्मा को सब भूतों में और सब भूतों को आत्मा में देखोगे—*आत्मानं सर्वभूतेषु सर्वभूतानि चात्मनि*; तुम वस्तुओं को ब्रह्म जानोगे—*सर्वं खल्विदं ब्रह्म*। परंतु इस योग की सर्वोच्च अनुभूति तो वह है जिससे तुम्हें पता चलेगा कि यह सारा जगत् एक अनंत दिव्य पुरुष की ही अभिव्यक्ति या लीला है, जिसमें तुम सबके अंदर नैर्व्यक्तिक सत् आत्मा को ही नहीं जो व्यक्त सृष्टि का आधार है,—यद्यपि उस ज्ञान को तुम खो नहीं दोगे—बल्कि श्रीकृष्ण को देखोगे जो स्वयं एक साथ ही समस्त व्यक्त और अव्यक्त सत्ता हैं, उसे धारण करते और उसे अतिक्रम करते हैं—*अव्यक्तो व्यक्तात्परः*। कारण सत् आत्मा के परे असत् की निश्चल नीरवता है, जिसे शून्यवादी बौद्धों ने शून्य के रूप में अनुभव किया था और इस निश्चल-नीरवता के परे परात्पर पुरुष हैं—*पुरुषो वरेण्यः आदित्यवर्णस्तमसः परस्तात्*। इसी परात्पर पुरुष ने अपनी सत्ता से इस जगत् को रचा है और वही इसमें विराजमान हैं तथा इसे धारण किये हुए हैं अनंत और सांत ईश्वर-रूप से, शिव और नारायण-रूप से, लीलामय श्रीकृष्ण-रूप से जो अपने प्रेम से हमें अपनी ओर आकर्षित करते हैं, अपनी प्रभुता के द्वारा हम सबको विवश करते हैं तथा इस बहुविध जगत् में आनंद, शक्ति और सौंदर्य का अपना शाश्वत खेल खेलते हैं।

यह जगत् उनके सत्, चित् और आनंद का एक खेलमात्र है। स्वयं जड़-तत्त्व, एक दिन तुम अनुभव करोगे कि, वास्तव में जड़ नहीं है, यह कोई स्थूल द्रव्य नहीं है, वरन् चेतना का ही एक रूप है, गुण है, सत्ता का गुण इंद्रिय-ज्ञान के सामने जड़-रूप में प्रतिभात होता है। स्वयं इसकी घनता केवल संहति और धृति-रूपी गुणों का समवाय है, सचेतन सत्ता की एक अवस्था है, और कुछ भी नहीं। जड़, प्राण, मन और जो कुछ मन से परे है वह सब श्रीकृष्ण है, अनंतगुण ब्रह्म है जो इस जगत् में सच्चिदानंद के रूप में खेल रहा है। जब हमें यह अनुभूति प्राप्त होती है तब हम सुरक्षित और स्थायी रूप से इस ब्रह्म में निवास करते हैं, शोक और पाप, भय, भ्रम, आंतरिक संघर्ष और दुःख की सारी संभावनाएं बलात् हमारी सत्ता से निकाल बाहर कर दी जाती हैं। तब हमें उपनिषदों के इस सत्य का अनुभव प्राप्त होता है,

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन।

"जिसे ब्रह्म का आनंद प्राप्त हो जाता है उसे जगत् में किसी चीज से भय नहीं होता।" और ईशोपनिषद् के इस सत्य का अनुभव भी प्राप्त होता है,

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥

"जब ज्ञान (विज्ञान) प्राप्त होने पर सभी सृष्ट वस्तुएं, सब भूत मनुष्य के आत्मा के साथ एक हो जाते हैं तब उसके बाद, जब कि वह उनकी सभी वस्तुओं में एकत्व को देखता है, उसे क्या मोह हो सकता है और क्या शोक?" उस समय तो वह सारा जगत् हमें एक दूसरे ही रूप में दिखायी देता है, यह सौंदर्य, श्रेय, ज्योति और आनंद का सागर प्रतीत होता है, शाश्वत शक्ति और शांति के आधार पर होनेवाली उल्लासमयी गति मालूम होता है। हम सभी वस्तुओं को शुभ, शिव, मंगल, आनंदमय के रूप में देखते हैं। हम सब प्राणियों के साथ एकात्म हो जाते हैं; *सर्वभूतात्म-भूतात्मा*, और इस अनुभूति के दृढ़ हो जाने पर हम इस योग्य हो जाते हैं कि संस्पर्श के द्वारा, एकत्व के द्वारा, प्रेम के प्रसार के द्वारा इसे दूसरों को भी प्रदान कर सकें तथा इस तरह इस दिव्य अवस्था, ब्राह्मी स्थिति के अपने इस जगत् में चारों ओर विकीर्ण होने के केंद्र बन सकें।

हमें केवल सजीव वस्तुओं में ही नहीं, बल्कि निर्जीव वस्तुओं में भी नारायण को देखना चाहिये, शिव को अनुभव करना चाहिये, शक्ति का आलिंगन करना चाहिये। अभी हमारी आंखें जड़तत्त्व की भावना से अंधी हो रही हैं; पर जब वे परम ज्योति की ओर उन्मुक्त होंगी तब हम देखेंगे कि कोई भी वस्तु निर्जीव नहीं है बल्कि सभी चीजों में व्यक्त या अव्यक्त रूप में, निवर्तित या विवर्तित रूप में, गुप्त या प्रकट रूप में अथवा प्रकटित होने की अवस्था में, न केवल निवर्तित चेतना की वह अवस्था ही जिसे हम 'अन्न' कहते हैं, वरन् प्राण, मन, विज्ञान, आनंद, चित् और सत् भी विद्यमान हैं। सभी वस्तुओं में भगवान् का स्वात्मचेतन व्यक्तित्व अधिष्ठित है और अपने गुणों का आनंद ले रहा है। फूल, फल, मिट्टी,

पेड़, धातु आदि सभी चीजों में उनका अपना एक आनंद होता है जिसे तुम एक दिन अनुभव करोगे, क्योंकि उन सबमें श्रीकृष्ण निवास करते हैं, और वह निवास करते हैं उनमें प्रवेश करके '*प्रविश्य*', पर जड़ या भौतिक रूप में नहीं, —क्योंकि यहां जड़ या भौतिक कोई चीज है ही नहीं और देश तथा काल तो इंद्रियानुभूति के लिये मात्र एक व्यवस्था या योजना हैं, भगवान् की सृष्टिकला का परिप्रेक्षण (Perspective) हैं, —बल्कि चित्-रूप में, अपनी परात्पर सत्ता की दिव्य चेतना के रूप में प्रवेश करके।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

"यह सारा जगत् और इस प्राकृतिक जगत् की प्रत्येक वस्तु ईश्वर के निवास के रूप में सृष्ट हुई है।"

और सभी वस्तुओं और प्राणियों में, *सर्वभूतेषु*, भगवान् को देखना भी पर्याप्त नहीं है; तुम्हें सभी घटनाओं, क्रियाओं, विचारों और अनुभवों में, अपने में और दूसरों में, जगत्भर में भगवान् को देखना होगा। इस अनुभूति के लिये दो बातें आवश्यक हैं; पहली तो यह है कि तुम्हें अपने सभी कर्मों का फल भगवान् को सौंप देना होगा और दूसरी यह कि तुम्हें कर्मों को भी उन्हें अर्पण कर देना होगा। कर्मफल को अर्पित करने का अर्थ यह नहीं है कि तुम्हें उससे वैराग्य हो जाये, तुम उससे मुंह मोड़ लो अथवा अपने सामने रखे हुए किसी उद्देश्य से कर्म करना अस्वीकार कर दो। उसका अर्थ यह है कि तुम्हें कर्म तो अवश्य करना चाहिये, पर इसलिये नहीं करना चाहिये कि तुम चाहते हो कि उससे अमुक बात हो जाये अथवा तुम समझते हो कि अमुक बात का होना आवश्यक है और उसके लिये तुम्हारा कर्म करना जरूरी है, बल्कि इसलिये करना चाहिये कि वह तुम्हारा कर्तव्य है, तुम्हारी सत्ता के स्वामी की वह मांग है और उसे तुम्हें करना ही है, चाहे उसका जो भी फल भगवान् तुम्हें क्यों न दें। जो कुछ तुम चाहते हो उसे तुम एक किनारे रख दो और यह जानने की इच्छा करो कि भगवान् क्या चाहते हैं; तुम्हारा हृदय, तुम्हारे आवेग या तुम्हारी अभ्यासगत धारणाएं जो कुछ ठीक और आवश्यक समझती हैं उसपर

विश्वास मत रखो और इन सबसे ऊपर उठकर, गीता के अर्जुन की तरह, केवल यह जानने की चेष्टा करो कि भगवान् ने तुम्हारे लिये क्या उचित और आवश्यक निर्धारित किया है। इस बात पर दृढ़ विश्वास रखो कि जब तुम अपने कर्तव्य-कर्म का ठीक-ठीक पालन करोगे तब उसके फलस्वरूप निश्चित रूप से वही होगा जो उचित और आवश्यक है; और अगर वह फल तुम्हारी पसंद या आशा के अनुरूप न भी हो तो भी उस विश्वास को ज्यों-का-त्यों बनाये रखो। जो शक्ति इस जगत् का परिचालन कर रही है वह कम-से-कम इतनी बुद्धि तो रखती ही है जितनी तुम रखते हो और यह नितांत आवश्यक नहीं कि इस जगत् के संबंध में तुमसे सलाह ली जाये या तुमको संतुष्ट किया जाये; स्वयं भगवान् इसकी देखभाल कर रहे हैं।

पर यह कर्तव्य कर्म क्या है? इसे बताना बड़ा कठिन है—*गहना कर्मणो गतिः*। अधिकांश लोग '**कर्तव्य कर्म**' का वही अर्थ करेंगे जो अंग्रेजी भाषा के 'ड्यूटी' शब्द से लिया जाता है। यदि उनसे इस शब्द की व्याख्या करने को कहा जाये तो वे कहेंगे इसका अर्थ है उचित और नीतिसंगत कर्म, वह कर्म जिसे लोग उचित और नीतिसंगत समझते हैं, जिसे तुम स्वयं अपनी विवेक-बुद्धि के अनुसार उचित समझते हो अथवा जिसे समाज, राष्ट्र या मानवजाति के हित की दृष्टि से तुम्हें करना पड़ता है। परंतु जो मनुष्य कर्तव्य-विषयक इस प्रकार के वैयक्तिक या सामाजिक विचारों के बंधन में जकड़ा रहता है, —यद्यपि अज्ञानी मनुष्यों की शोर-गुल मचानेवाली कामनाओं को तथा उनके व्यक्तिगत अहंकार को संयत और नियंत्रित करने के लिये ये विचार आवश्यक हैं—वह अवश्य ही एक ऐसा आदमी तो हो सकता है जिसे लोग भला आदमी कहा करते हैं; पर वह इस योग की पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकता। वह केवल एक प्रकार के कर्मफल की इच्छा के बदले दूसरे प्रकार के फल की इच्छा रखेगा; वह उन उच्चतर फलों को प्राप्त करने के लिये प्रयास करेगा, संभवतः अत्यधिक आवेश के साथ भी प्रयास करेगा और उन्हें प्राप्त न कर सकने पर और भी बुरी तरह दुःखी होगा। परोपकारी के आवेश से अधिक भयंकर और कोई भी आवेश नहीं होता, किसी प्रकार के अहंकार को जड़-मूल से हिलाना

उतना कठिन नहीं होता जितना कि पुण्य के जमे हुए अहंकार को हिलाना कठिन होता है, क्योंकि यह अपनी दृष्टि में और दुनिया की दृष्टि में भी उचित प्रतीत होता है और इसलिये यह किसी उच्चतर विधान के सामने सिर झुकाने की आवश्यकता को अनुभव नहीं कर सकता। ऐसे मनुष्य को यदि फल के विषय में शोक न भी हो तो भी वह राजसिक कर्ता की तरह परिश्रम और प्रयास करेगा, संघर्ष करेगा, युद्ध करेगा, व्याकुल होगा और क्लांत होगा, त्रिगुणातीत नहीं होगा, सदा गुणों के बंधनों में रहेगा।

इसी प्रकार की वैयक्तिक पुण्य और सामाजिक कर्तव्य की भावना के वशीभूत होकर अर्जुन ने युद्ध करना अस्वीकार कर दिया था। उसकी युक्तियों के विरुद्ध श्रीकृष्ण ने दो विभिन्न प्रकार के विचार रखे—एक निम्न कोटि का विचार है जो उस मनुष्य के उपयोग के लिये है जो बद्ध हो पर मुक्त होना चाहता हो, और दूसरा उच्च कोटि का विचार है जो मुक्त पुरुष के लिये है, एक शास्त्र की बात है और दूसरी भगवान् को न केवल कर्मफल बल्कि कर्मतक को समर्पित करने की बात है। शास्त्र की विशेषता यह है कि वह एक ऐसा जीवन-विधान हमारे सामने रखता है जो एकदम हमसे बाहर का होता है, हमारी व्यक्तिगत कामनाओं, युक्तियों, आवेशों और संस्कारों से भिन्न होता है, हमारी स्वार्थपरता और स्वेच्छाचारिता से बाहर का होता है और जिसके अनुसार सच्चे भाव के साथ जीवन-यापन करने से हम केवल आत्मसंयम ही नहीं प्राप्त कर सकते, बल्कि सात्त्विक अहंकार को भी अधिक-से-अधिक मात्रा में घटाकर अपने-आपको मुक्ति के लिये तैयार कर सकते हैं। प्राचीन युग में शास्त्र था वैदिक धर्म जो मनुष्य के मन तथा जगत् के नियमों के गभीर ज्ञान पर अवलंबित था और जो मनुष्य के सामने उसके सच्चे स्वरूप को खोलकर रख देता था तथा उसे यह दिखा देता था कि वह अपने स्वभाव के अनुसार किस प्रकार जीवन-यापन कर सकता है। उसके बाद इसने स्मृतियों के विधान का रूप ग्रहण कर लिया जिसने अधिक मोटे रूप में इसी बात को करने का प्रयास किया और इसके लिये मनुष्यों का, सामान्य विभागों में, जिन्हें वेदों में चतुर्वर्ण कहा गया है, वर्गीकरण कर दिया। आज यह शास्त्र अंध यांत्रिक

रीति-नीति और सामाजिक परंपरा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रह गया है, यह सात्त्विक नहीं बल्कि तामसिक बन गया है, यह मुक्ति का साधन नहीं, बल्कि केवल बंधन रह गया है।

उत्तम-से-उत्तम शास्त्र का भी अहंकार के लिये, पुण्य के अहंकार के लिये तथा पक्षपात एवं व्यक्तिगत मतामत के अहंकार के लिये दुरुपयोग किया जा सकता है। अपने सर्वोत्तम स्वरूप में वह मुक्ति की तैयारी का एक महान् साधन है। वह 'शब्द-ब्रह्म' है। परंतु हमें केवल तैयारी से ही संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिये, बल्कि ज्यों ही हमारी आंखें खुल जायें, हमें सच्ची स्वतंत्रता की ओर तेजी से अग्रसर होना चाहिये। मुक्तात्मा और वह मुक्ति का साधक जो अपने कर्मों तक का भगवान् को समर्पण कर चुका है, दोनों ही उत्तम-से-उत्तम शास्त्र के परे चले जाते हैं—*शब्दब्रह्मातिवर्तते*।

कर्म के समर्पण के लिये सबसे उत्तम आधार यह अनुभूति है कि हमारे सभी कर्मों को प्रकृति भगवान् के आदेशानुसार करती है और भगवान् हमारे स्वभाव के द्वारा उन कर्मों को निर्धारित करते हैं। जिस क्षण यह अनुभूति स्थापित हो जाती है उसी क्षण से सब कर्म भगवान् के हो जाते हैं, अब न तो कर्म हमारे रह जाते हैं न कर्म का उत्तरदायित्व हम पर रहता है; वास्तव में न तो कर्म का कोई उत्तरदायित्व होता है न बंधन, क्योंकि भगवान् पर किसी प्रकार का उत्तरदायित्व नहीं होता, वह तो हर तरह से सबके स्वामी हैं और स्वतंत्र हैं। उस समय हमारे कर्म शास्त्रानुसार चलनेवाले मनुष्य के कर्म की तरह न केवल स्वभावनियत—प्रकृति द्वारा नियंत्रित—और इसलिये धर्म बन जाते हैं अपितु स्वयं हमारा स्वभाव ही एक यंत्र की तरह भगवान् द्वारा नियंत्रित होता है। पर ज्ञान की इस स्थिति को प्राप्त कर लेना हमारे लिये उतना आसान नहीं है क्योंकि हम अज्ञान के संस्कारों से भरे हुए हैं। लेकिन साधना की तीन क्रमिक अवस्थाएं हैं जिनके द्वारा इस स्थिति को शीघ्रता से प्राप्त किया जा सकता है। पहली अवस्था है इस श्लोक के भाव में जीवन-यापन करना—

त्वया हृषीकेश हृदिस्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।

"हे हृषीकेश ! मेरे हृदय में विद्यमान तेरे द्वारा जैसा मैं नियुक्त किया जाता हूं वैसा ही मैं करता हूं।" जब यह भाव तुम्हारे दैनिक जीवन में स्थापित हो जायेगा तब दूसरी अवस्था को पूरी करना और गीता के इस ज्ञान के अंदर निवास करना आसान हो जायेगा—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

"ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में स्थित है और सबको अपनी त्रिगुणात्मिका माया के द्वारा इस प्रकार घुमा रहा है मानों वे किसी यंत्रचक्र पर आरूढ़ हों।" तब तुम अपने अंदर तीनों गुणों की क्रिया को समझ सकोगे और इस यंत्र के कार्य का निरीक्षण कर सकोगे। तब तुम यह नहीं कहोगे कि '*तथा करोमि*'—मैं करता हूं, बल्कि यह कहोगे कि '*गुणा वर्तन्त एव*—केवल गुण ही कर्म करते हैं'। इन अवस्थाओं में, विशेषकर उस समय तक जबतक कि तुम गुणों की क्रिया को ठीक-ठीक पहचानने न लगो, एक बड़ी कठिनाई यह उपस्थित होती है कि तुम्हें अपने स्वभाव की अशुद्धि का बोध होता है और पाप-पुण्य का विचार तुम्हारे पीछे पड़ जाता है। तुम्हें बराबर यह याद रखना चाहिये कि जब तुमने अपने-आपको भगवान् के हाथों में सौंप दिया है तब वही इन अशुद्धियों को दूर करेंगे और तुम्हें तो केवल सावधान रहना चाहिये और पाप या पुण्य किसीसे भी आसक्त नहीं होना चाहिये। क्योंकि उन्होंने बार-बार अभय वचन दिया है। उन्होंने गीता में कहा है—"*प्रतिजाने*—मैं तुझसे प्रतिज्ञा करता हूं, *न मे भक्तः प्रणश्यति*—मेरे भक्त का कभी नाश नहीं होता।"

तीसरी अवस्था दूसरी अवस्था में से ही, भगवान् की पूर्ण उपलब्धि होने पर अथवा भगवान् की कृपा से अपने-आप ही निकल आती है। उस समय न केवल पुरुष अपने-आपको अलग कर लेगा और त्रिगुणातीत हो जायेगा, बल्कि प्रकृति भी, गुणों का उपयोग करते हुए भी, उनके बंधन से मुक्त हो जायेगी। जिसे हम सत्त्व कहते हैं वह शुद्ध प्रकाश और ज्योति में परिणत हो जायेगा और प्रकृति एक विशुद्ध, स्वतंत्र और अनंत स्वतःस्थित

ज्योति में निवास करेगी। जिसे हम तमस् कहते हैं वह शुद्ध शम या शांति में परिवर्तित हो जायेगा और प्रकृति एक अनंत और अवर्णनीय विश्राम और शांति के ऊपर दृढ़तापूर्वक स्थापित हो जायेगी। जिसे हम रजस् कहते हैं वह शुद्ध तपस् में रूपांतरित हो जायेगा और प्रकृति दिव्य शक्ति के उन्मुक्त और अनंत समुद्र में प्रवाहित होने लगेगी। उस शांति के आधार पर और उस ज्योति के स्वर्ग में, कर्म इस प्रकार होने लगेंगे मानों वे भगवान् के ज्ञान की, जो भगवान् के संकल्प के साथ एक है, अपने-आप होनेवाली बाह्य अभिव्यक्ति हों। यही अनंत की वह अवस्था है जिसमें बद्ध और सीमित सत्त्व, रजस् और तमस् के इस संघर्ष के स्थान में मुक्त प्रकाश, तपस् और शम का शक्तिशाली सामंजस्य स्थापित हो जाता है। और इस अवस्था को प्राप्त करने से पहले भी, इसकी प्राप्ति के मार्ग में होने पर भी, तुम यह अनुभव करोगे कि कोई अत्यंत बलवती शक्ति, जो तुम्हारी अपनी नहीं है, जो तुम्हारे शरीर में अवस्थित नहीं है यद्यपि उसे अधिकृत और परिपूरित किये हुए है, तुम्हारे लिये सोचती-विचारती है, अनुभव करती है और कर्म करती है; तुम्हारे मन और हृदय की तरह ही तुम्हारा शरीर तक भी उसी शक्ति द्वारा चालित हो रहा है, तुम्हारे द्वारा नहीं। तुम उस विचार, अनुभव और कर्म का आनंद प्राप्त करोगे, पर न तो तुम उन्हें अधिकृत करोगे और न वे तुम्हें अधिकृत करेंगे, —*कर्माणि प्रविलीयन्ते*, तुम्हारे कर्म तुम्हारे अंदर कोई चिह्न या छाप छोड़े बिना वैसे ही विलीन हो जायेंगे जैसे समुद्र की सतह पर से लहर विलीन हो जाती है, जैसे कमल के पत्ते पर से पानी गिर जाता है। तुम्हारा मन, हृदय और शरीर तुम्हारे नहीं रह जायेंगे, बल्कि भगवान् के हो जायेंगे; तुम स्वयं सत्, चित् और आनंद का एक केंद्रमात्र रह जाओगे जिसके द्वारा भगवान् उस आधार में कर्म करेंगे। यही वह अवस्था है जिसमें मनुष्य पूर्णरूपेण '*तच्चित्तः*' हो जाता है, अपनी सारी सचेतन सत्ता को भगवान् के अर्पित कर देता है और जिसमें गीता का यह कथन पूर्ण रूप से चरितार्थ हो जाता है कि,

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।

"जिसकी सत्ता अहंभाव से मुक्त है और जिसकी बुद्धि पर कोई दाग नहीं पड़ता।" यही कर्मों का समर्पण है जिसे श्रीकृष्ण इतना अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशी निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

"सभी कर्मों को मेरे ऊपर छोड़कर और अपनी सारी सचेतन सत्ता को अध्यात्मयोग में लगाकर कामना और ममता से मुक्त हो जा, युद्ध कर, अपनी आत्मा के ज्वर को दूर हटा।" इस महान् और पूर्ण मुक्ति को प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि तुम निःस्पृह, निर्द्वंद्व और निरहंकार हो जाओ, वस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छा से, द्वंद्वों के संस्कारों से तथा अहंकार से रहित हो जाओ; क्योंकि ये तीनों ही आत्म-समर्पण के प्रधान शत्रु हैं। अगर तुम निर्द्वंद्व हो जाओ तो तुम निःस्पृह भी हो सकते हो, अन्यथा नहीं। कारण प्रत्येक द्वंद्व मन के स्वभाव के द्वारा ही, मन के अंदर किसी-न-किसी प्रकार का राग-द्वेष—अनुराग और विराग, आकर्षण और विकर्षण—उत्पन्न करता है, फिर चाहे वे निम्न कोटि के द्वंद्व हों जो शरीर के द्वारा मन को प्रभावित करते हैं, जैसे भूख और प्यास, सर्दी और गर्मी, शारीरिक सुख और दुःख; अथवा वे मध्यम कोटि के हों जो मन को भावनाओं और कामनाओं के द्वारा प्रभावित करते हैं, जैसे सफलता और विफलता, विजय और पराजय, सौभाग्य और दुर्भाग्य, प्रसन्नता और अप्रसन्नता, हर्ष और शोक, प्रेम और घृणा; अथवा वे उच्च कोटि के हों जो मन को विवेक-बुद्धि के द्वारा प्रभावित करते हैं, जैसे, पुण्य और पाप, न्याय और अन्याय, सत्य और मिथ्या। इन सब चीजों को हम केवल जीत सकते हैं या तो पूर्ण ज्ञान के द्वारा, उस ज्ञान के द्वारा जो भगवान् को सब वस्तुओं में देखता है और इस तरह भगवान् के इस महान् विश्व कर्म के अंदर सभी वस्तुओं के पारस्परिक संबंध को समझ जाता है, या पूर्ण भक्ति के द्वारा, जो भक्ति सभी वस्तुओं को आनंद के साथ स्वीकार करती है—और इस तरह द्वंद्वों का नाश करती है—क्योंकि वे सब चीजें प्रियतम के यहां से

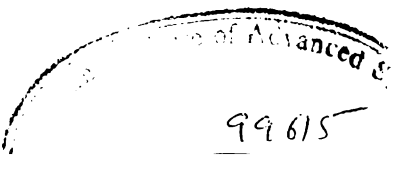
Advanced
99615

आती हैं, अथवा पूर्ण कर्म के द्वारा, उस कर्म के द्वारा जिसमें सब कुछ भगवान् को यज्ञ के रूप में अर्पित कर दिया जाता है और साधक सफलता-विफलता, मान-अपमान इत्यादि उन सभी द्वंद्वों के प्रति, जो साधारणतया सभी कर्मों के साथ लगे रहते हैं, पूर्ण उदासीन बना रहता है। ऐसा ज्ञान, ऐसी भक्ति और ऐसा कर्म आत्मसमर्पण के संकल्प और उसकी साधना के फल-स्वरूप अनिवार्य रूप से प्राप्त होते हैं।

परंतु अहंकार हम पर या हमसे संबंधित वस्तुओं पर होनेवाले अन्य वस्तुओं के संबंध और प्रभाव को जीवन का मानदंड बनाकर द्वंद्वों को हमारे बंधन की जंजीर बना देता है। यह अहंकार हमारे जीवन और साधना के ऊपर जो क्रिया करता है उसके अनुसार वह तीन प्रकार का दिखायी देता है—राजसिक, तामसिक और सात्त्विक। रजोगुण कामना के द्वारा तथा प्रकृति में जो अधिकार करने और कर्म करने की लालसा है उसके द्वारा बांधता है, यह बराबर कर्म और कर्मफल को प्राप्त करने की चेष्टा करता रहता है; इस राजसिक अहंकार से मुक्ति पाने के लिये ही हमें यह आदेश दिया गया है कि 'फल की कामना से कर्म मत करो'—*मा कर्मफलहेतुर्भूः*; और यह आदेश दिया गया है कि अपने कर्म भगवान् को अर्पण कर दो। तमोगुण दुर्बलता के द्वारा और प्रकृति में जो आराम और अकर्मण्यता की चाह है उसके द्वारा बांधता है, यह बराबर आलस्य, अवसाद, मन की उलझन, भय, निरुत्साह, विषाद और निराशा में डूबता जाता है; इस तामसिक अहंकार से मुक्त होने के लिये ही हमें यह आदेश दिया गया है कि "अकर्म में तुझे कभी आसक्ति नहीं होनी चाहिये"—*मा ते संगोस्त्वकर्मणि*, और यह आज्ञा दी गयी है कि चाहे हम योग में आगे बढ़ते हुए प्रतीत होते हों या अपने-आपको एक स्थान पर ही खड़ा हुआ अनुभव करते हों अथवा पीछे की ओर भी हटते हुए प्रतीत होते हों तो भी हमें सदा अटल श्रद्धा तथा धैर्यपूर्ण और हर्षयुक्त लगन के साथ, *अनिर्विण्णचेतसा*, योगसाधना में लगे रहना चाहिये। सत्त्वगुण ज्ञान और सुख के द्वारा बंधन में डालता है; यह सदा किसी-न-किसी अपूर्ण अनुभूति के प्रति, अपनी ही किसी पुण्य की भावना के प्रति, अपनी ही निश्चित

सम्मति और सिद्धांत की यथार्थता के प्रति आसक्त रहता है अथवा अपनी उच्चतम अवस्था में, जैसा कि अर्जुन के विषय में हुआ था, यह परोपकार, न्याय या पुण्य की अपनी व्यक्तिगत भावना को, अपनी इच्छाओं को समर्पण कर देने की जो भगवान् की हमसे मांग है उसके विरुद्ध लाकर खड़ा कर देता है। इस सात्त्विक अहंकार से छुटकारा पाने के लिये हमें पाप-पुण्य के द्वंद्व की आसक्ति से परे चले जाना होगा—*उभे सुकृत-दुष्कृते*।

अहंकार पर कार्य करनेवाले प्रत्येक गुण का उस साधक के लिये विशेष-विशेष खतरा होता है जिसने आत्म-समर्पण का संकल्प तो किया है पर जो अभीतक उस समर्पण को पूर्ण रूप से जीवन में नहीं उतार सका है। रजोगुण से खतरा तब होता है जब साधक पर अभिमान का आक्रमण होता है और वह यह समझने लगता है कि "मैं एक बहुत बड़ा साधक हूं, मैं इतना आगे बढ़ चुका हूं, मैं भगवान् के हाथ का एक महान् यंत्र हूं", तथा ऐसे ही अन्य विचार उसके मन में उठने लगते हैं; अथवा जब वह अपने कार्य में यह समझकर आसक्त हो जाता है कि यह भगवान् का कार्य है और उसे पूरा करना ही होगा और इस तरह उसमें अपने-आपको लगा देता है और उसके लिये इस तरह परेशान होता है मानों भगवान् के कार्य में उसे भगवान् से भी अधिक दिलचस्पी हो और वह भगवान् से भी अधिक अच्छाई के साथ उसे पूरा कर सकता हो। बहुत-से लोग जब कि राजसिक अहंकार के भाव से ही बराबर कार्य करते होते हैं, अपने-आपको यह समझा लेते हैं कि उनके द्वारा भगवान् कार्य कर रहे हैं और उस कार्य में उनका अपना कोई हाथ नहीं है। इसका कारण यह है कि वे अपनी समर्पण की भावना के विषय में केवल अपनी बुद्धि की स्वीकृति पाकर ही संतुष्ट हो जाते हैं और इस बात की प्रतीक्षा नहीं करते कि उनका सारा आधार और समस्त जीवन उस भावना से ओतप्रोत हो जाये। अतः यह आवश्यक है कि हमें इस बात की सतत स्मृति बनी रहे कि भगवान् दूसरों में भी हैं और हम व्यक्तिगत उत्सुकता (स्पृहा) का त्याग करते रहें तथा तबतक अपनी आंतरिक क्रियाओं का सावधानी के साथ निरीक्षण करते रहें

जबतक भगवान् आत्मज्ञान के पूर्ण प्रकाश के द्वारा, *ज्ञानदीपेन भास्वता*, हमारे अंदर से आत्मप्रवंचना की सभी भावी संभावनाओं को दूर नहीं कर देते।

तमोगुण से दो प्रकार का खतरा होता है; एक तो तब होता है जब पुरुष अपने अंदर के तमस् के साथ एकाकार होकर यह समझने लगता है कि "मैं दुर्बल हूं, पापी हूं, दुःखी हूं, अज्ञानी हूं, किसी काम का नहीं हूं, इस मनुष्य से हीन हूं और उस मनुष्य से हीन हूं, अधम हूं, मेरे द्वारा भगवान् क्या कर सकते हैं ?" —मानों भगवान् अपने यंत्रों की क्षणिक योग्यताओं और अयोग्यताओं से सीमित हों और यह बात सत्य न हो कि वह मूक को भी वाचाल बना सकते हैं और पंगु को भी पर्वत लांघने की शक्ति दे सकते हैं, *मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्*। और दूसरा खतरा तब होता है जब साधक को एक प्रकार की निश्चिंतता का, एक प्रकार की अभावात्मक शांति से आनेवाली महान् निश्चिंतता का रस मिलता है, वह यह अनुभव करता है कि वह समस्त दुःखों से मुक्त हो गया है तथा शांति प्राप्त कर चुका है और इस कारण जीवन और कर्म से मुंह मोड़ लेता है और अकर्म की शांति और आराम से आसक्त हो जाता है। यह सदा स्मरण रखो कि तुम भी ब्रह्म हो और दिव्य शक्ति तुम्हारे अंदर कार्य कर रही है; इस बात के लिये निरंतर प्रयास करो कि भगवान् की जो सर्वशक्तिमत्ता है तथा इस लीला में जो उनका आनंद है, उन दोनों की अनुभूतियां तुम्हें प्राप्त हों। भगवान् अर्जुन को, *लोकसंग्रहार्थाय*, लोक-संग्रह के लिये कर्म करने की आज्ञा देते हैं, क्योंकि वह नहीं चाहते कि यह संसार प्रकृति की जड़ता में डूब जाये, बल्कि वह इस बात पर जोर देते हैं कि तुम भी वैसे ही कर्म करो जैसे वह स्वयं कर्म करते हैं, *उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्*, यदि मैं कर्म न करता तो ये जगत् तमस् से अभिभूत हो जाते और प्रकृति में डूब जाते। अकर्म से आसक्त होने का अर्थ है अपने कर्म भगवान् को नहीं बल्कि अपने तामसिक अहंकार को अर्पित करना।

सत्त्वगुण से उस समय खतरा होता है जब साधक अपनी बुद्धि के

किसी एकदेशीय निर्णय से, साधना की किसी विशिष्ट क्रिया से, योग की किसी विशेष सिद्धि के आनंद से (संभवतः पवित्रता की अनुभूति या किसी विशिष्ट शक्ति की प्राप्ति या भगवान् के संस्पर्श के आनंद या मुक्ति की अनुभूति से) आसक्त हो जाता है, केवल उसीके लिये भूखा रहता है, केवल उसीको चाहता है और दूसरी किसी वस्तु को नहीं चाहता। याद रखो कि यह योग तुम्हारे लिये नहीं है और यद्यपि ये सब चीजें सिद्धि के अंग हैं फिर भी ये सिद्धि के उद्देश्य नहीं हैं; कारण तुमने आरंभ में ही यह निश्चय किया है कि तुम भगवान् से कुछ भी नहीं मांगोगे, बल्कि जो कुछ वह तुम्हें अपनी मर्जी से देंगे वही तुम लोगे, और आनंद का जहांतक प्रश्न है, निःस्वार्थ जीव भगवान् के सान्निध्य के आनंद का भी त्याग कर सकता है अगर भगवान् की वैसी ही इच्छा हो। तुम्हें उच्चतम सात्त्विक अहंकार से भी, मुमुक्षुत्व के सूक्ष्म अज्ञान से भी मुक्त होना होगा और समस्त सुख और आनंद को बिना आसक्ति के ग्रहण करना होगा। तभी तुम गीता के अनुसार सिद्ध या पूर्ण पुरुष हो सकते हो।

अतएव इस योग की प्रक्रियाएं इस प्रकार हैं—(१) आत्मसमर्पण का संकल्प करना, (२) आत्मज्ञान के द्वारा अपने-आपको आधार से पृथक् करना, (३) सर्वत्र, सभी वस्तुओं में और सभी घटनाओं में भगवान् के दर्शन करना, कर्मफलों और स्वयं कर्मों को भी भगवदर्पण करना और इस तरह अज्ञान से, अहंकार से, द्वंद्वों से और कामना-वासना से मुक्त हो जाना, जिससे कि तुम अपनी सत्ता में शुद्ध, मुक्त, सिद्ध और आनंदमय हो जाओ। परंतु एक बार आत्मसमर्पण का संकल्प ले लेने पर ये सब प्रक्रियाएं भगवान् की शक्ति के द्वारा, प्रकृति की एक महान् पद्धति के द्वारा क्रमशः कार्यान्वित होंगी। तुम्हारी ओर से जो कुछ करना अपरिहार्य है वह है अनुमति और स्मृति। अनुमति का अर्थ है सम्मति; तुम्हें अस्थायी रूप से योग की क्रियाओं को, साधना की परिस्थितियों के अंग के रूप में तुम्हारे अंदर और बाहर जो कुछ भी घटित होगा उसको सम्मति देनी ही होगी; किसी भी अच्छी बात को देखकर भूल नहीं जाना होगा, न किसी बुरी बात से उद्विग्न ही होना होगा, एक को पकड़ने के लिये अथवा दूसरे से पिंड

छुड़ाने के लिये अपने हृदय में किसी तरह का संघर्ष नहीं करना होगा, बल्कि जो कुछ तुम्हें अंत में सिद्ध करना है उसे ही बराबर ध्यान में रखना होगा और उसे ही स्थायी अनुमति देते रहना होगा। स्थायी अनुमति का मतलब है प्रक्रियाओं को बिना किसी विरोध के स्वीकार कर लेना, न कि परिणामों को निश्चित रूप से स्वीकार कर लेना। स्थायी अनुमति का मतलब है पहले से ही परिणामों की आशा करके उन्हें स्वीकार करना, एक प्रकार से प्रयासशून्य और कामनारहित इच्छा-शक्ति का निरंतर प्रयोग करना। इसी कामनारहित इच्छाशक्ति का निरतंर प्रयोग करना, तीव्र अभीप्सा बनाये रखना और इस मार्ग तथा इसके लक्ष्य को सदा स्मरण रखना ही धृति और उत्साह है जिनका साधक में होना आवश्यक है। व्याकुलता इन सबसे अधिक तीव्र तो होती है पर वह उतनी व्यापक रूप से शक्तिशाली नहीं होती, और वह विक्षोभ तथा अवसाद उत्पन्न करती है, प्रयास करते समय तो तीव्र सुख और दुःख देती है पर प्राप्ति होने पर उतना विशाल आनंद नहीं देती। जो लोग इस मार्ग का अनुसरण करना चाहते हैं उन्हें प्राचीन युगों के मनुष्यों की तरह '*धीराः*' —जो उपनिषदों का एक महान् प्रशंसात्मक शब्द है—होना चाहिये। स्मृति या स्मरण में तुम्हें अप्रमत्त अर्थात् प्रमाद से रहित होना चाहिये। गुणों के वेग और आक्रमण के कारण स्मृति नष्ट हो जाती है और इस तरह स्मृति नष्ट होने से योगी भ्रष्ट हो जाता है, अपने दृढ़ आसन से च्युत हो जाता है, अपने पथ से दूर चला जाता है। परंतु जब प्रमाद आये और पतन या अंधकार की अवस्था स्थायी होती हुई प्रतीत हो तो भी तुम्हें घबराना नहीं चाहिये, कारण तुम्हारा स्थायी पतन होने का तो कोई डर है ही नहीं, क्योंकि स्वयं भगवान् ने तुम्हारा सारा भार अपने ऊपर ले लिया है और अगर तुम ठोकर खाते हो तो इसका कारण यही है कि ठोकर खाना तुम्हारे लिये श्रेयस्कर है, जैसे कि एक बालक बार-बार ठोकर खाकर और गिरकर ही चलना सीखता है। अप्रमत्तता की आवश्यकता उस समय जाती रहेगी जब तुम योग और उसके उद्देश्य की स्मृति के स्थान में समस्त वस्तुओं और घटनाओं में भगवान् की निरंतर स्मृति को, गीता के 'नित्य स्मरण' को स्थापित कर लोगे। अवश्य ही जो लोग आरंभ में हीं पूर्ण

समर्पण कर सकें उनके लिये कोई प्रश्न ही नहीं, उनका मार्ग तो बड़ा ही सरल होता है और वे बड़ी तीव्र गति से अग्रसर होते हैं।

सनत्सुजातीय में यह कहा गया है कि सिद्धि के लिये चार बातें आवश्यक हैं—शास्त्र, उत्साह, गुरु और काल। मैं तुम्हें जो कुछ दिखा रहा हूं वही है तुम्हारे लिये शास्त्र अर्थात् पथ-निर्देश; साधना के लिये आवश्यक जो उत्साह है वह है यह अनुमति और यह नित्य स्मरण; गुरु हैं स्वयं भगवान् और उसके बाद जो कुछ बाकी है उसके लिये आवश्यक है केवल काल, समय। स्वयं भगवान् ही गुरु हैं—इस बात का पता तुम्हें उस समय लगेगा जब तुम्हें ज्ञान प्राप्त होगा। उस समय तुम देखोगे कि किस प्रकार तुम्हारे अंदर और बाहर की प्रत्येक छोटी-छोटी घटनाएं भी योग की स्वाभाविक क्रिया को सुसंपादित करने के लिये अनंत प्रज्ञा के द्वारा सूक्ष्म रूप से परिकल्पित और सुसंघटित हुई हैं, किस प्रकार बाहरी और भीतरी प्रक्रियाएं एक-दूसरे के ऊपर कार्य करने के लिये व्यवस्थित और संयोजित हुई हैं जिसमें अपूर्णता दूर की जा सके और पूर्णता स्थापित की जा सके। सर्वशक्तिमान् प्रेम और ज्ञान तुम्हारे लिये अभ्युत्थान के कार्य कर रहे हैं; अतएव जो समय इस कार्य में लग रहा है उसके लिये, अगर वह लंबा भी मालूम हो तो भी, तुम कभी मत घबराओ, बल्कि जब कभी अपूर्णताएं और बाधाएं तुम्हारे सामने उपस्थित हों तब अप्रमत्त, धीर बने रहो, उत्साह बनाये रखो और बाकी जो कुछ करना है उसे भगवान् पर छोड़ दो। समय अत्यंत आवश्यक है। एक अत्यंत महान् कार्य तुम्हारे अंदर किया जा रहा है, तुम्हारी समग्र मानव-प्रकृति को दिव्य प्रकृति में परिणत किया जा रहा है, शताब्दियों में होनेवाले क्रम-विकास को कुछ वर्षों में ही पूरा किया जा रहा है। समय के लिये तुम्हें कभी कुढ़ना नहीं चाहिये। कुछ दूसरे ऐसे मार्ग हैं जो अपेक्षाकृत शीघ्र फल प्राप्त कराते हैं अथवा कम-से-कम वे तुम्हें कुछ ऐसी निश्चित क्रिया बता देते हैं जिन्हें तुम स्वयं कर सकते हो और इस तरह तुम्हारे अहंकार को यह संतोष हो सकता है कि तुम कुछ कर रहे हो—तुम समझते हो आज तुमने इतने अधिक प्राणायाम किये, इतने अधिक समय तक आसन लगाया, इतने अधिक जप किये, इतनी साधना

कर ली, इतनी अधिक प्रगति निश्चित रूप से हो गयी। परंतु एक बार जब तुमने यह मार्ग ग्रहण कर लिया है तब तुम्हें इसे ही पकड़े रहना होगा। वे सब मानवीय पद्धतियां हैं, उनके द्वारा वह अनंत शक्ति कार्य नहीं करती, वह शक्ति तो चुपचाप, कभी-कभी अज्ञात रूप से, अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होती है, कहीं आगे बढ़ती है तो कहीं ठहरी हुई-सी दिखायी देती है और उसके बाद अत्यंत शक्तिमत्ता और सफलता के साथ उस महान् कार्य को प्रकट करती है जिसे उसने सिद्ध कर लिया होता है। कृत्रिम मार्ग मनुष्य की बुद्धि के द्वारा निर्मित नहरों के समान होते हैं, उनके द्वारा तुम सहज ही निरापद और निश्चित रूप से यात्रा कर सकते हो, परंतु एक निश्चित स्थान से दूसरे निश्चित स्थान तक ही तुम जा सकते हो। पर यह मार्ग एक विशाल और पथहीन समुद्र की तरह है जिसके द्वारा तुम दूर-दूर तक संसार के सभी भागों की यात्रा कर सकते हो और अनंत की स्वतंत्रता में प्रवेश कर सकते हो। तुम्हें बस आवश्यकता है केवल जहाज, पतवार, दिग्दर्शक यंत्र, चालिका शक्ति तथा एक निपुण कप्तान की। ब्रह्मविद्या है तुम्हारा जहाज, श्रद्धा है तुम्हारा पतवार, आत्मसमर्पण है तुम्हारा दिग्दर्शक यंत्र, वह भगवती शक्ति है तुम्हारी चालिका शक्ति जो भगवान् के आदेशानुसार सभी जगतों का सृजन, संचालन और संहार करती है तथा स्वयं भगवान् हैं तुम्हारे कप्तान। परंतु भगवान् की कार्य करने की अपनी पद्धति है और प्रत्येक वस्तु के लिये उनका अपना समय है। उनकी कार्यपद्धति को ध्यानपूर्वक देखो और उनके समय की प्रतीक्षा करो। साथ ही शास्त्र को स्वीकार करने तथा गुरु के शरणापन्न होने के महत्त्व को हृदयंगम करो, उन यूरोपियन लोगों का अनुकरण मत करो जो बुद्धि के विवेक करने की शिक्षा प्राप्त करने या तर्क करने की योग्यता प्राप्त करने से पहले भी इस बात पर जोर देते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धि को अपनी ही मौजों और पसंदों के अनुसार—जिन्हें वह बुद्धि युक्ति-तर्क के नाम से पुकारती है—चलने की पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिये। आजकल माया और अद्वैत के विषय में तात्त्विक वाद-विवाद करने और दार्शनिक सूक्ष्मताओं की आलोचना करने का एक फैशन-सा हो गया है और लोग इन सबको

आध्यात्मिक अनुभूति का स्थान देकर इन्हें सबसे प्रधान विषय बना देते हैं। इस फैशन का तुम अनुसरण मत करो अथवा मार्ग पर चलते समय नाना प्रकार के प्रश्न उठाकर अपने-आपको उलझन में मत डालो और न समय ही व्यर्थ नष्ट करो, उन सब प्रश्नों का पूर्ण और स्पष्ट समाधान तुम्हें उस समय मिल जायेगा जिस समय 'विज्ञान' का दिव्य ज्ञान तुम्हारे अंदर प्रकट होगा। तात्त्विक आलोचना से प्राप्त होनेवाला ज्ञान भी अपना एक स्थान रखता है, पर वह स्थान है आध्यात्मिक अनुभव के एक अनुचर का, कभी-कभी वह आध्यात्मिक अनुभूति को पथ तो दिखाता है पर बहुत कुछ उसी पर निर्भर करता है और उसीकी दानशीलता पर जीता है। कोरा दार्शनिक ज्ञान पांडित्य मात्र है, एक शुष्क और निष्फल वस्तु है और सहायक होने के बदले कहीं अधिक बाधक ही सिद्ध होता है। एक बार जब तुमने इस पथ को स्वीकार कर लिया है तब इसके शास्त्र का अनुसरण करो, व्यर्थ संदेह और प्रश्न मत करो, मन को उच्चतर ज्ञान की ज्योति के प्रति नमनशील बनाये रखो, जो कुछ अनुभव हो उसे दृढ़तापूर्वक पकड़े रखो, जहां तुम्हें सभी चीजें अंधकारमय दिखायी दें वहां प्रकाश के आने की प्रतीक्षा करो, जो लोग इस मार्ग पर पहले चल चुके हों उन जीवित पथ-प्रदर्शकों से जितनी सहायता तुम ले सको उतनी बिना किसी अभिमान के लेते रहो; सदा धैर्य बनाये रखो; कभी जल्दबाजी में कोई संकीर्ण निर्णय मत कर डालो; बल्कि और भी पूर्ण अनुभूति और पूर्ण ज्योति की प्रतीक्षा करो, एकमात्र उन जगद्गुरु पर भरोसा रखो जो तुम्हें भीतर से सहायता कर रहे हैं।

यहां पर मायावाद तथा अद्वैतसंबंधी आधुनिक शिक्षाओं के विषय में भी कुछ कहने की आवश्यकता है, क्योंकि आजकल इनका बहुत अधिक बोलबाला है और इनमें यूरोपियन तर्कवाद तथा अज्ञेयवाद के—जिनके साथ अपना नाम जुड़ा हुआ देखकर शंकर को भी आश्चर्य हुआ होता—घुलमिल जाने से ये बहुत-से लोगों को भ्रम में डाल देती हैं। याद रखो कि एकदेशीय दर्शनशास्त्रों में सर्वदा सत्य का आंशिक वर्णन ही होता है। यह जगत्, जैसा कि भगवान् ने इसे बनाया है, किसी कठोर न्यायसूत्र

से बंधा हुआ नहीं है, बल्कि यह संगीत की एक तान की तरह है, अनेक वैचित्र्यों से गठित एक अनंत सुरसंगति है तथा स्वयं भगवान् की सत्ता भी स्वतंत्र और निरपेक्ष होने के कारण न्याय-शास्त्र के अनुसार उसकी कोई परिभाषा नहीं निश्चित की जा सकती। जिस प्रकार सर्वोत्तम धर्म वही है जो सभी धर्मों के सत्य को स्वीकार करता है, ठीक उसी प्रकार सर्वोत्तम दर्शन वही है जो सभी दर्शनों के सत्यों को स्वीकार करता है और प्रत्येक सत्य को उचित स्थान प्रदान करता है। माया एक आध्यात्मिक उपलब्धि है, एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है जिसपर शंकर ने अत्यधिक जोर दे दिया, क्योंकि उनकी अपनी अनुभूति में यही सबसे अधिक सुस्पष्ट थी।, जहांतक तुम्हारा अपना संबंध है, तुम इस शब्द को सामान्य प्रयोग के लिये ही छोड़ दो और 'लीला' की भावना पर अधिक ध्यान दो; यह शब्द 'माया' की अपेक्षा कहीं अधिक गभीर और भावपूर्ण है। 'लीला' शब्द 'माया' की भावना को ग्रहण करता और उससे भी परे जाता है; और उसके अतिरिक्त इसमें सभी वस्तुओं को असार समझने का भाव नहीं है जो तुम्हारे लिये बिल्कुल निरर्थक है, क्योंकि तुमने तो मथुरा और वृंदावन में श्रीकृष्ण के साथ रहने और लीला करने का निश्चय किया है।

भगवान् एक हैं, पर वह अपने एकत्व से सीमित नहीं हैं। हम यहां देखते हैं कि वह एक हैं और सदा बहु रूप में अभिव्यक्त हो रहे हैं, परंतु इसलिये नहीं कि ऐसा किये बिना वह रह ही नहीं सकते बल्कि इसलिये कि ऐसी ही उनकी इच्छा है; और इस अभिव्यक्ति से बाहर वह 'अनिर्देश्य' हैं, उन्हें न तो एक कहा जा सकता है न बहु। इसी बात की शिक्षा उपनिषद् तथा अन्यान्य धर्मग्रंथ बराबर से देते आ रहे हैं; वह '*एकमेवाद्वितीयम्*' हैं, एक हैं, उनके सिवा दूसरा और कोई नहीं है, कुछ भी नहीं है, पर साथ ही और इसलिये 'यह पुरुष, वह स्त्री, वह नील पंखवाली चिड़िया, यह लाल पंखवाली चिड़िया भी वही हैं।'[1] वह सांत हैं, वह

[1] त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
नीलः पतंगो हरितो लोहिताक्ष . . . ॥

—श्वेताश्वतर ४.३-४

अनंत हैं, जीव भी वही हैं। गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं, "मैं अश्वत्थ वृक्ष हूं, मैं मृत्यु हूं, मैं वैश्वानर अग्नि हूं, मैं वह अग्नि हूं जो अन्न पचाती है, मैं व्यास हूं, मैं वासुदेव हूं, मैं अर्जुन हूं।" यह सब उनकी अनंत सत्ता के अंदर उन्हींके चैतन्य का खेल है, उन्हींकी अभिव्यक्ति है और इसलिये यह सब कुछ सत्य है। माया का बस इतना ही अर्थ है कि ब्रह्म जिन परिस्थितियों में अपने-आपको अभिव्यक्त करता है उनसे वह सर्वथा मुक्त है। उसके विषय में हम जो कुछ देखते या सोचते हैं उससे वह किसी प्रकार सीमित नहीं है। उसी माया से, अज्ञान की माया से हमें मुक्त होना है जो सभी वस्तुओं को पृथक् रूप में वर्तमान देखती है, भगवद्-रूप में, चैतन्य-रूप में नहीं देखती, जो असीम को वस्तुतः ससीम समझती है, मुक्त को बद्ध मानती है। क्या तुम्हें श्रीकृष्ण और गोपियों की वह कहानी याद है जिसमें यह वर्णन आता है कि नारद जिस-जिस घर में गये उस-उस घर में श्रीकृष्ण को उन्होंने भिन्न-भिन्न रूप में लीला करते हुए पाया, प्रत्येक गोपी के साथ भिन्न-भिन्न शरीर से उपस्थित देखा और फिर भी एक ही श्रीकृष्ण सर्वत्र विराजमान थे ? इस कहानी के भक्तिमूलक अर्थ को तुम जानते ही हो, पर उसके अतिरिक्त यह भगवान् की विश्वलीला का एक बड़ा ही अच्छा रूपक है। वह सर्व हैं, प्रत्येक जीव हैं, प्रत्येक पुरुष हैं तथा उसकी बाह्यतः भिन्न प्रतीत होनेवाली प्रकृति तथा क्रिया भी हैं और फिर साथ-ही-साथ पुरुषोत्तम भी हैं जो राधा, पराप्रकृति के साथ हैं और अपनी इच्छा के अनुसार चाहे जब इन सबको अपने अंदर खींच सकते हैं और चाहे जब फिर बाहर निकाल सकते हैं। एक दृष्टि से ये सब उनके साथ एक हैं, दूसरी दृष्टि से उनके साथ एक होते हुए भी उनसे भिन्न हैं, फिर एक दूसरी दृष्टि से बराबर ही उनसे भिन्न हैं, क्योंकि ये सब चाहे उनके अंदर निहित हों या उनकी इच्छा के अनुसार बाहर प्रकट हों, ये सदा विद्यमान हैं। इन सब दृष्टियों के विषय में वाद-विवाद करने से कोई लाभ नहीं। जबतक तुम भगवान् को नहीं देख लेते और अपने को तथा उनको नहीं जान जाते तबतक धैर्य रखो; जब तुम जान जाओगे तब वाद-विवाद और तर्क-वितर्क की कोई आवश्यकता नहीं रह जायेगी।

जो लक्ष्य हमारे लिये निर्धारित किया गया है वह इन सब चीजों के विषय में अनुमान लगाना नहीं है, बल्कि वह है इन्हें अनुभव करना। हमें जो आदेश मिला है वह यह है कि हम भगवान् के साथ सादृश्य प्राप्त करें, उनमें और उनके साथ निवास करें, उनके आनंद और शक्ति का एक पात्र तथा उनके कार्य का एक यंत्र बनें। जो कुछ भी अशुभ है, उससे शुद्ध होकर, उनके दिव्य स्पर्श से अंतरात्मा में रूपांतरित होकर हमें इस जगत् में उस दिव्य विद्युत्-शक्ति के एक डायनमो की तरह कार्य करना होगा तथा उस विद्युत्-शक्ति को थर-थराहट और जगमगाहट के साथ सारी मनुष्यजाति के अंदर संचारित करना होगा, जिसमें जहां कहीं हममें से कोई भी एक आदमी खड़ा हो वहां उसके चारों ओर हजारों मनुष्य भगवान् की ज्योति और शक्ति से भर जायें, भगवान्मय और आनंदमय बन जायें। धर्ममंदिर, धर्मसंघ, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र इत्यादि मनुष्यजाति की रक्षा करने में असमर्थ सिद्ध हुए हैं, क्योंकि वे बौद्धिक मतवाद, सिद्धांत, बाह्य क्रिया और अनुष्ठान में, आचार, शुद्धि और दर्शन में ही इस तरह लगे रहे मानों वे ही मनुष्यजाति की रक्षा कर सकते हैं और जो बात अत्यंत आवश्यक है उसीकी अर्थात् आत्मा की शुद्धि और शक्ति की उन्होंने अवहेलना कर दी। हमें उसी एक आवश्यक बात की ओर लौटना चाहिये, पुनः हमें मनुष्यजाति की पवित्रता और पूर्णतासंबंधी ईसा की शिक्षा को, भगवान् के प्रति पूर्ण अधीनता, आत्म-समर्पण और सेवाभाव स्वीकार करने के विषय में मुहम्मद की शिक्षा को भगवान् के प्रति प्रेम तथा मनुष्य के अंदर भगवद्-आनंद के विषय में चैतन्य की शिक्षा को तथा सब धर्मों की एकता और मनुष्य में अंतर्निहित भगवान् की दिव्यता के विषय में रामकृष्ण की शिक्षा को ग्रहण करना होगा और इन सब धाराओं को एकत्र कर एक विशाल नदी में, एक पावनी और मुक्तिदायिनी गंगा में परिणत करना होगा और फिर उसे जड़वादी जीवन्मृत मनुष्यसमाज के ऊपर ढाल देना होगा, जैसे कि भगीरथ ने गंगा को उतारकर उससे अपने पूर्वजों की राख बहा दी थी, जिससे मनुष्यजाति का आत्मा फिर से जी उठे और कुछ समय के लिये संसार में सत्ययुग की प्रतिष्ठा हो जाये। और केवल इतना ही लीला का या योग का

संपूर्ण उद्देश्य नहीं है; जिस उद्देश्य से अवतार पृथ्वी पर आते हैं वह है बार-बार मनुष्य को ऊपर उठाना, उसमें उत्तरोत्तर उच्च से उच्चतर मानवता का विकास करना, एक महत्तर, फिर उससे भी महत्तर भागवत सत्य का विकास करना, बार-बार पृथ्वी पर अधिकाधिक मात्रा में स्वर्ग को तबतक उतारते रहना जबतक हमारा परिश्रम सफल न हो जाये, हमारा कार्य सिद्ध न हो जाये और यहां, इस स्थूल भौतिक जगत् में, सबके अंदर सच्चिदानंद की पूर्ण अभिव्यक्ति न हो जाये। उस मनुष्य का कार्य, अगर वह सफल भी हो जाये तो भी अत्यंत सामान्य है जो केवल अपनी मुक्ति या थोड़े-से लोगों की मुक्ति के लिये प्रयास करता है; परंतु उस मनुष्य का कार्य, अगर वह असफल भी हो जाये या केवल आंशिक रूप में या कुछ काल के लिये ही सफल हो तो भी, उससे अनंतगुना महान् है जो समस्त मनुष्यजाति में आत्मा की शांति, आनंद, पवित्रता और पूर्णता स्थापित करने के लिये ही जीवन धारण करता है।

परिशिष्ट

(इस पुस्तक के कुछ अंशों के विषय में श्रीअरविंद की व्याख्याएं)

पृष्ठ १०, पंक्ति १९ और पृष्ठ २१, पंक्ति ४

'चित्त' का व्यवहार साधारण तौर पर सामान्य मानसिक चेतना के लिये, विचार, भावना आदि सबको एक साथ लेकर होता है और कभी तो एक पक्ष पर और कभी दूसरे पर जोर दिया जाता है, कभी-कभी भावनाओं पर जोर होता है जैसे कि चित्त-प्रमाथी में है, कभी-कभी चिंतक मन पर होता है—यही कारण है कि मैंने पृष्ठ ११ पर (मच्चित्तः) का अनुवाद, उसके विशालतर अर्थ में, "हृदय और मन" किया है। 'चेतस्' का व्यवहार भी इसी ढंग से किया जा सकता है, पर इसमें, सच पूछा जाये तो, एक अलग अर्थ है, और इसमें अंतरात्मा की, समस्त चेतना की भी क्रियाएं सम्मिलित हो सकती हैं; पृष्ठ २४ पर मैंने इसके अत्यंत व्यापक अर्थ में इसे ग्रहण किया है। अनुवाद करने का मतलब अक्षरशः अनुवाद करना नहीं है बल्कि श्लोकों में जो विचार प्रकट किये गये हैं उन्हें पूरे रूप में व्यक्त करना है। 'अध्यात्म-चेतसा' का वस्तुतः वह अर्थ है जिसे हिंदी में हम आध्यात्मिक चेतना कह सकते हैं।

पृष्ठ १३, पंक्ति २०

यहां मूल अंग्रेजी में "quality" (गुण) शब्द के पहले "the" लगाने की कोई जरूरत नहीं है—अंग्रेजी में उसके कारण अर्थ ही बदल जायेगा। यहां जड़-तत्त्व को इंद्रियों द्वारा गृहीत होने का 'गुण' नहीं माना गया है; मैं नहीं समझता कि इसका कोई अर्थ हो सकता है। यहां जड़तत्त्व को उस चेतना की किसी विशेष शक्ति और कार्य का परिणाम माना गया है जो इंद्रिय-बोध के समक्ष अपने आकार उपस्थित करती है और इंद्रिय

द्वारा ज्ञानप्राप्ति का यह गुण ही वह चीज है जो, मानों, उन्हें जड़-तत्त्व का, अर्थात् उनके अंदर निहित एक प्रकार की यथार्थता का रूप प्रदान करती है—परंतु वास्तव में वे स्वयं-सत् यथार्थ वस्तु नहीं होते बल्कि चेतना के आकार होते हैं। यहां प्रश्न यह है कि स्वयं-सत् जड़-तत्त्व जैसी कोई वस्तु नहीं है जैसा कि उन्नीसवीं शताब्दी के विज्ञान ने उसे माना है।

पृष्ठ १४, पंक्ति २०

(आलिंगन करना चाहिये।)

यह एक रूपक है जिसका अर्थ है प्रेम और आनंद के साथ अपनी चेतना में धारण करना।

पृष्ठ २५, पंक्ति २२

प्रकृति यहां मनुष्य के अंदर विद्यमान विश्व-प्रकृति का अंश है; विश्व-प्रकृति की स्थिति ही गुणों के बदलने से परिवर्तित होती है और विश्व-प्रकृति की यह स्थिति ही सत्त्व के ज्योति में रूपांतरित हो जाने पर आलोकित हो जायेगी।

पृष्ठ २४, पंक्ति २०

(लोक संग्रहार्थाय—क्या इसका अर्थ वर्तमान व्यवस्था है?)

नहीं। अधिक व्यापक अर्थ में इसका मतलब है उस विश्व-व्यवस्था का संरक्षण जो विकसनशील हो सकती है, न कि आवश्यक रूप से कोई स्थितिशील व्यवस्था, ऐसी व्यवस्था जो आध्यात्मिक, नैतिक और हो और महज कोई सामाजिक व्यवस्था न हो।

99615
DA ...4-12-2006

ISBN 8-170-58358-6

Library IIAS, Shimla
H 181.45 Au 68 H

Price: Rupees 12.00